श्रमणों एवं श्रावकों का पारस्परिक-सम्बन्ध

न्यायाधिपति श्री जसराज चौपड़ा

गुरु एवं श्रमण के स्वरूप पर विशद प्रकाश डालने के साथ चौपड़ा सा. ने श्रमणों एवं श्रावकों के पारस्परिक कर्त्तव्यों का चिन्तनपूर्ण विश्लेषण किया है। आलेख में उनका व्यापक अध्ययन, मनन और संप्रेषण प्रतिबिम्बित हुआ है। यदि कोई मात्र इस एक आलेख को पढ़ ले तो भी गुरु, श्रमण एवं श्रावक के सम्बन्ध में उसकी समझ विकसित हो सकती है-**सम्पादक**

श्रमण एवं श्रावक का सम्बन्ध गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध है। परमेष्ठी एवं पुरुष का सम्बन्ध है। इनके सम्बन्धों की बात करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि श्रमण किसे कहते हैं एवं श्रावक कौन होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रमण को परिभाषित करते हुए फरमाया है- **''श्राम्यन्तीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः''** अर्थात् जो श्रम व तप करे वह श्रमण है। आचार्य रविषेण ने तप को ही श्रम कहा है। वे कहते हैं- ''परित्यज्य नृपो राज्यम्, श्रमणो जायते महान्। तपसा प्राप्यसम्बन्धस्तपो हि श्रम उच्यते।'' (पद्मचरित 6.2) अर्थात् राजा-महाराजा राज्य-त्याग कर तप से जुड़कर श्रमण बनने में गौरव की अनुभूति करते हैं, क्योंकि तप ही श्रम है। उत्तराध्ययन सूत्र 2.3 में कहा गया है- **''समयाए समणो होइ''** अर्थात् जो समता में रहे वही श्रमण है। स्थानांग सूत्र में कहा गया है- **''णत्थि य से कोई वेसो, पिओय सव्वेसु जीवेसु, एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ।।''** अर्थात् जो किसी से द्वेष न करता हो, जिसको सभी जीव समान भाव से प्रिय हैं वह श्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'समण' शब्द का निर्वचन ''सम+मन'' से है, जिसका अर्थ है सभी जीवों के प्रति समान मन यानी समभावी होना श्रमणता है। सम-मन से एक मकार का लोप करने से 'समन' हो जाता है। इसी बात को दो तरह से इस प्रकार कहा गया है- **''सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वात्''** जो प्राणिमात्र के प्रति मन में समत्व का भाव रखता हो एवं **''सम्यक्मणे समणे''** अर्थात् जिसका मन सम्यक्त्व से ओतप्रोत हो वह श्रमण है। स्थानांग सूत्र में कहा गया है-

सो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे अजणे य समो, समोअ माणावमाणेसु।।

-स्थानांग सूत्र 3

अर्थात् समण सुमना (सुमन वाला) होता है। वह कभी पापमना नहीं होता अर्थात् उसका मन निर्मल एवं स्वच्छ होता है, कलुषित नहीं। जो स्वजन-परजन मान-अपमान में सर्वत्र सम रहता है,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संतुलित रहता है वही समण (श्रमण) है।

प्रभु महावीर ने फरमाया है- "**समयाधम्ममुदाहरे मुणी।**"-सूत्रकृतांग 2.2.6 अर्थात् प्रभु के अनुसार समता में ही धर्म का निवास है तथा जो समता में रमण करे वही श्रमण है। सूत्रकृतांग सूत्र में श्रमण की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि जो आसक्ति रहित हो, किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखे, किसी प्राणी की हिंसा न करे, झूठ नहीं बोले, काम-क्रोध-मोह-लोभ-मद-राग-द्वेष-प्राणातिपात आदि पापों एवं आत्मा को पतन मार्ग पर अग्रेसित करने वाले साधनों से निवृत्त रहे, जितेन्द्रिय, शुद्ध संयमी एवं ममत्व रहित हो वह समण है। बुद्ध ने धम्मपद में कहा है- "**न मुण्डकेन समणो, अव्वत्तो अलिकं भणो। इच्छालोभ-समापन्नो समणो किं भविस्सति।।**" -धम्मट्ठवग्ग, 9 अर्थात् मात्र सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता। जो इच्छाओं एवं लोभ को जीते, व्रती एवं सत्यवादी हो वह श्रमण है। वस्तुतः श्रमण को ही प्राकृत भाषा में 'समण' कहा जाता है, जिसका अर्थ है श्रम करने वाला। यह श्रम सामान्य श्रमिक का श्रम नहीं है, वरन् आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में कृत श्रम है। इसका अर्थ है कि जो स्वयं के श्रम से कर्म बंधन की बेड़ियों को तोड़ता है यानी जो स्वयं को कर्ममुक्त बनाने हेतु श्रम करता है वह श्रमण है। जो त्रस या स्थावर किसी भी जीव को परिताप, संक्लेश या पीड़ा नहीं पहुँचाता है एवं पृथ्वी की भांति सब प्रकार के परीषहों को समभावपूर्वक सहता है वह महामुनि श्रमण या श्रमणश्रेष्ठ कहलाता है। "**उवेहमाणो कुसलेहिं संवसे अकंतदुक्खा तसथावरादुही अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहादिसे झुस्समणे समाहिए।।**" -आचारांग सूत्र 2.16। इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण तप, त्याग, संयम, परीषह आदि की अग्नि में तपकर अर्थात् स्वयं के कठोर परिश्रम से आत्मा को मुक्तकर 'श्रमण' नाम को सार्थक करता है। संक्षेप में कहें तो श्रमण-श्रमणी का कठोरतम तपोमयी जीवन स्व-कल्याण के साथ समाज में आध्यात्मिकता के उत्थान, नैतिकता के निखार एवं सर्वांगीण समत्व-साधना के संचार एवं प्रसार हेतु समर्पित होता है। शब्द-विभक्ति के आधार पर कहें तो 'श्र' (स) श्रमशीलता, समत्व व तपाराधना का द्योतक है तो 'म' मनोनिग्रह, ममत्व रहितता व मनन शीलता का स्वरूप है एवं 'ण' णमोकार मंत्र की पंच परमेष्ठी पद की अर्हता एवं वीतरागता की साधना का द्योतक है। वस्तुतः कोई समता से श्रमण एवं ज्ञान से मुनि होता है।

समयाए समणो होइ, तवेण होइ तावसो।
णाणेण य मुणी होइ, बंभचेरेण बंभणो।।

- उत्तराध्ययन सूत्र

ऐसे ही महान् श्रमणों (साधुओं) को लक्ष्य कर नीतिकार चाणक्य कहता है-"**साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः। कालेन फलते तीर्थः सद्यः साधुसमागमः।।**" अर्थात् साधु दर्शन स्वयं में पुण्य उपार्जन का स्रोत है, क्योंकि साधु (श्रमण) स्वयं ही तीर्थ है। तीर्थ दर्शन तो पता नहीं किस घड़ी एवं किस काल में फल प्रदान करेगा, परन्तु संत-श्रमण-दर्शन तो शीघ्र या तत्काल फलदाता होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण को व्यावहारिक भाषा में हम संत कहते हैं। संत के माहात्म्य का दिग्दर्शन करने वाली दो पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं-

संतहृदय नवनीत समाना कहा कविन्ह पै कह्यहि न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुःख द्रवइ संत सुपुनीता।।

अर्थात् कवियों ने अपने काव्यों में संतहृदय को नवनीत (मक्खन) के समान कोमल बताया है, पर उनका यह कथन इसलिए सही नहीं है एवं यह तुलना इसलिए गलत है क्योंकि मक्खन तो स्वयं को ताप लगे तब पिघलता है, पर संत हृदय पराये दुःख को देखकर द्रवित हो पिघल जाता है। अतएव संत हृदय नवनीत से कहीं ज्यादा कोमल एवं परदुःख कातर है। इसी तरह आचार्य समन्तभद्र श्रमणचर्या को इंगित करते हुए फरमाते हैं- **''ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी प्रशस्यते।''** अर्थात् वही श्रमण प्रशंसा को प्राप्त करता है जो ज्ञानी, ध्यानी एवं तपस्वी होता है।

श्रमण की व्याख्या करने के पश्चात् श्रावक कौन होता है, इसका भी उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। श्रावक शब्द की विभक्ति करें तो चार अक्षरों का मेल श्रावक है अर्थात् 'श्र' 'अ' 'व' 'क'। 'श्र' श्रद्धानिष्ठता का द्योतक है तो 'अ' अहिंसा एवं अपरिग्रह के गुण को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। 'व' विवेक एवं व्यवहारकुशलता को परिलक्षित करता है तो 'क' कार्यकौशल एवं कर्मनिर्जरा के प्रयत्न का द्योतक है। जिस गृहस्थ में यह गुण हो वह श्रावक होने की पात्रता अर्जित करता है। तभी कवि दौलतराम जी फरमाते हैं-''सदन निवासी तदपि उदासी तातें आश्रव छंटाछंटी।'' जो व्यक्ति निवृत्त भाव से सदन या आगार में रहे तथा मन में सदैव यह भाव या छटपटाहट बनी रहे कि इस गृहस्थ के झंझटों से कब किनारा करूँ तो ऐसे श्रावक के आस्रवों की टूटन होती है एवं वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है। गृहकार्य करते हुए भी जिनमें निवृत्ति की छटपटाहट हो एवं मन में वैराग्यभाव के प्रति अटूट श्रद्धा हो वह घर तपोवन है। ऐसा गृहस्थ श्रावक, गृहस्थ के वेष में भी साधु के सदृश ही है। प्रभु ने अपने एवं पंच परमेष्ठी के उपासकों को श्रावक कहा है। 'श्रावक' अर्थात् वह व्यक्ति जो एकाग्रता से वीतराग वाणी का श्रवण करे। हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का निर्णय करे एवं फिर उसे सम्यक् आचरण में उतारे । श्रवण का आंतरिक एवं एकाग्र होना आवश्यक है। श्रावक शब्द की विभक्ति करें तो 'श्र' आंतरिक एवं एकाग्र श्रवण का द्योतक है तो 'आवक' यानी उक्त वीतराग वाणी को हृदय में उतारे, उसे ग्रहण करे, तभी वह श्रावक बनता है। इस मनुष्य जन्मरूपी वृक्ष को यदि श्रावकत्व में ढालना है तो इससे छह फल प्राप्त करने आवश्यक हैं- **''जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः सत्त्वानुकंपा, शुभपात्रदानम्। गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य नृजन्म वृक्षस्य फलान्यमूनि।।''** इसका अर्थ है कि मनुष्य का श्रावकत्व तभी सार्थक है जब उसके हृदय मंदिर में वीतराग जिनेश्वर भगवंत सदा विराजमान रहें, वह वीतराग मार्ग के पथिक धर्मगुरुओं की सेवा एवं उपासना करने वाला हो, प्राणिमात्र के प्रति दया एवं अनुकंपा का भाव रखने वाला हो, सदैव सुपात्र दान हेतु पूरी गम्भीरता से तत्पर हो, गुणानुरागी हो एवं गुण जहां से भी प्राप्त हों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें ग्रहण करने में तत्पर हो तथा जिसका गुणीजनों के प्रति अनुराग एवं प्रमोद का भाव हो एवं जो सदैव आगम या शास्त्र-श्रवण का रसिक हो।

एक आदर्श श्रावक विवेकशील होता है। वह धर्म-श्रवण में सागर के समान गंभीर एवं धर्मश्रद्धा में पर्वत के समान अडोल, अकम्प तथा अडिग होता है। वह जिनशासन की प्रभुता तथा महत्ता के प्रति समर्पण में आकाश के समान विशाल हृदय वाला होता है एवं संघनिष्ठा और संघ-समर्पण में धरती की तरह धैर्यवान होता है। वस्तुतः सच्चा श्रावक प्राणिमात्र पर प्रेम एवं स्नेह की वर्षा करने वाला, अज्ञान व मोह के प्रति सावधान एवं अप्रमादभाव वाला होता है, वह इन्द्रिय-विषयों को संयमित करने में श्रमशील होता है, राग-द्वेष एवं कषायों के शमन में प्रयत्नरत रहता है, स्वदोष-दर्शन में विश्वास करने वाला व परदोषदर्शन से दूर रहने वाला होता है। श्रावक सदैव भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक रखने वाला सादगी एवं सरलता को जीवन में अपनाने वाला, हृदय में दया को प्रमुख स्थान देने वाला एवं हंसते-हंसते परीषहों को सहन कर क्षमाशीलता के भाव को जीवन में उतारने वाला होता है। तभी गुरु शिष्य से कहते हैं- ''उज्जुदंसिणो'' हे शिष्य! हे श्रावक! तू ऋजुदर्शी एवं सरलदृष्टि बनना।

श्रमण एवं श्रावक दोनों शब्दों की व्याख्या, महत्त्व एवं कर्त्तव्यों का संक्षिप्त विश्लेषण कर यह बताया गया है कि श्रमण कौन होता है एवं श्रावक किन योग्यताओं का धारक होता है। अब हम मूल विषय पर आते हैं कि इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होने चाहिए। मैं पहले ही कह गया हूँ कि इनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य का एवं परमेष्ठी व समर्पित उपासक का सम्बन्ध है। संस्कृत में एक सुभाषित है- 'एतद् सर्वं गुरोर्भक्त्या' अर्थात् सब रोगों की एक दवा है और वह है गुरुभक्ति एवं गुरुचरणों में समर्पण। परमात्मा परोक्ष है व गुरु प्रत्यक्ष हैं। वे ही ज्ञान प्रदान करते हैं। कहा है- ''आचार्यात् विदधाति आचार्यवान् पुरुषो वेदा।'' यानी बिना गुरु के परमात्मा का भी पता नहीं लगता है, अतः शिष्य के लिए गुरु से सम्बन्धों के प्रति आगम का कथन है- ''आणाए गुरु'' सदैव गुरु-आज्ञा में चलें। तभी गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं- **''गुरु बिन भव निधि तरहीं न कोई। चाहे विरंचि शंकर समहोई।''** आप चाहे कितने ही ज्ञानी हों, पर गुरु के सहारे के बिना भवसागर के पार नहीं उतर सकते। एक राजस्थानी कवि ने गुरु-शिष्य के सम्बन्धों पर कितना सटीक कहा है- ''सत्गुरु मेरा शूरमा करे शबद की चोट। मारे गोला प्रेम का, हरे भरम की कोट। अर्थात् मेरा सद्गुरु श्रमण ऐसा शूरवीर है कि वह तलवार या भाले का नहीं आगमोक्त वचनों की चोट करता है। वह प्रेमयुक्त प्रेरणा या फटकार बताकर भी मन के समस्त संशयों के किले को ध्वस्त कर देता है। इसका अर्थ यही है कि श्रावक को सदा अपने सद्गुरु श्रमण के प्रति श्रद्धानिष्ठ एवं समर्पित रहना चाहिए। उसमें दो गुण अति आवश्यक हैं जिनके बिना न वह सच्चा श्रावक बन सकता है न ही वह धार्मिक बन सकता है। प्रभु ने फरमाया है कि -''विवेगे धम्ममाहिए।'' विवेक में धर्म कहा है। यह धर्म विनयवान एवं विवेकशील को प्राप्त होता है। पूरा नवकार मंत्र जिसमें पंच परमेष्ठी के प्रति विनय का भाव है, उसका हर पद 'णमो' से अर्थात् नमन या विनय से प्रारम्भ होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रभु ने अपनी अन्तिम देशना जो उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में गुंफित है, का प्रथम अध्ययन शिष्य या श्रावक के विनय को समर्पित किया है। घड़ा पानी में झुके नहीं तो भर नहीं पाता, अतः गुरु से ज्ञान-प्राप्ति का प्रथम सूत्र है कि श्रावक का श्रमण के साथ व्यवहार अति विशिष्ट एवं विनययुक्त होना चाहिए। तभी शिष्य या श्रावक को लक्ष्य में रखकर कहा गया है- **''जिन सेव्या तिन पाया ज्ञान।''** गुरु ज्ञान उसी शिष्य को प्रदान करता है जो विनीत हो। बिना गुरु का ज्ञान शब्दज्ञान भले ही हो वह सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। सम्यकता के अभाव में विवेक नहीं पनप सकता। सम्यक् ज्ञान के लिए आवश्यक है गुरु-भक्ति, गुरु-विनय एवं गुरु-समर्पण। तभी संस्कृत सुभाषित में कहा है- **''विना गुरुभ्यो गुणवीरधीभ्यो, जानाति तत्त्वं न विचक्षणोऽपि। आकर्णदीर्घा मितलोचनोऽपि, दीपं बिना पश्यति नांधकारो।।''** इसका भावार्थ है गुणसागर गुरु के बिना अति विचक्षण बुद्धि वाला व्यक्ति भी तत्त्वों को नहीं जान सकता। जैसे कि कानों तक फैले हुए विशाल नेत्रों वाला व्यक्ति भी दीपक की सहायता के बिना अंधकार में नहीं देख सकता। संत तुकाराम जी कहते हैं- **''सद्गुरु वांचो नी सांपडेना सोय। धरावे ते पाय आधी आधी।''** सद्गुरु-श्रमण के समागम के बिना श्रावक मानव को सही मार्ग मिलना सम्भव नहीं है। सद्गुरु संत-श्रमण की संगति करने पर एवं उनसे व्यर्थ के वाद-विवाद की बजाय सच्ची ज्ञान-चर्चा करने पर ही इस राग-द्वेष व कषाययुक्त सांसारिक भुल-भुलैया से निकलने का पथ मिल सकता है।

वस्तुतः सीखने की कुशल कला का नाम ही शिष्यत्व या श्रावकत्व है। शिष्य का अर्थ ही है जो झुकने को राजी हो। जैसाकि पहले कह चुका हूँ कि वही व्यक्ति-घड़ा ज्ञानरूपी पानी से भरेगा जो गुरुज्ञान रूपी सरोवर में अपने को झुकाने में सक्षम होगा। श्रावक वही है जो ज्ञान को अपने अंहकार से अधिक महत्त्व दे। प्रकाश की छोटी सी किरण को पाने हेतु झुकने को राजी हो। सब कुछ पाने को गुरु चरणों में सब कुछ खोने को तत्पर हो। शिष्य या श्रावक का अर्थ ही है गुरु व श्रमणों के प्रति गहन विनम्रता। झुके बिना ज्ञान उपलब्ध ही नहीं होता। सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने हृदय के द्वार से गुरुज्ञान को स्वीकार कर लेने हेतु परम प्रसन्नता के साथ तत्परता का भाव ही शिष्यत्व अथवा श्रावकत्व है। गुरु एवं शिष्य अथवा श्रमण एवं श्रावक का मिलन श्रावक के मौन तथा श्रमण के शब्द से होता है। आत्मा को गुरु (श्रमण) के समक्ष खड़ी करने से पूर्व गुरु (श्रमण) चरण को अपने हृदय की अंतरतम श्रद्धा से पखार लो। इसी से भीतर का काम-कषाय जलकर जीवन निखरेगा। गुरु के समक्ष इस प्रकार उपस्थित हों जैसे हम हैं ही नहीं। महत्त्वाकांक्षाओं से हृदय को खाली करो ताकि गुरु (श्रमण) उसमें कुछ भर सकें। तभी कवि कहता है- ''गुरु दरश को जाइये तज माया अभिमान। ज्यों-ज्यों पग आगे धरे, त्यों-त्यों यज्ञ समान।''

यह एक अनुभूत सत्य है कि आत्म-विद्या का ज्ञान श्रमण गुरु से ही सीखा जा सकता है। करोड़ों शास्त्र पढ़ने से भी आत्मज्ञान प्राप्त करना कठिन है। एक कुशल गुरु (श्रमण) माली की तरह वासना, विकार एवं दुर्विचारों का झाड़ झंखाड़ उखाड़ कर जीवन में सद्गुणों के पौधों की रक्षा करता है एवं अपने

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव, दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता के बल पर शिष्य के जीवन-उद्यान में सद्गुणों के बीज बोकर उसे सुवासित करता है। एक कुशल कुंभकार कुरूप मिट्टी जिसमें जल सोख लिया जाता है, उसके पात्र बना उन्हें अग्नि में तपाकर जल ही क्या दुग्ध-घी-अमृत संचय के योग्य बना लेता है। सद्गुरु श्रमण भी इसी तरह अनगढ़ बेडौल मानव को ज्ञान, शिक्षा, सद्बोध, तप-त्याग-व्रत-प्रत्याख्यान के संस्कारों की अग्नि में तपाकर श्रावक के रूप में जीवन जीने की कला सिखा देते हैं ताकि वह एक श्रेष्ठ स्वर्ण पात्र बनकर जीवन में सारे सद्गुणों को सुरक्षित रख सके। शोषक को पोषक बनाने की विधि गुरु ही प्रदान करता है। अतः शिष्य या श्रावक तथा गुरु एवं श्रमण की पारस्परिक व्यवहार की आधारशिला शिष्य या श्रावक का विनय-विवेक युक्त एवं श्रद्धा से सराबोर व्यवहार ही है। यही शिष्य की विनयशीलता है जिससे गुरु शिष्य को एवं श्रमण श्रावक को दुर्लभ जीवन रहस्यों से अवगत करा मोक्षमार्ग का पथिक बना पाता है। इसी तरह बड़ों एवं गुरुओं के प्रति विनयशीलता के आधार पर कुरुक्षेत्र के महाभारतीय युद्ध मैदान में बिना किसी शस्त्र का प्रयोग किए पितामह भीष्म, गुरु द्रोण एवं कृपाचार्य से धर्मराज युधिष्ठिर ने मात्र विजयी होने का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं किया, वरन् युद्ध के मैदान में किस विधि से उन्हें हराया जा सकता है, इसका रहस्य भी प्राप्त कर लिया एवं यही नहीं अपने मामा शल्यराज जो कर्ण के सारथी थे, उनसे भी न सिर्फ विजयी होने का आशीर्वाद प्राप्त किया वरन् युद्ध के मैदान में महावीर कर्ण को हतोत्साहित करने का वचन भी प्राप्त कर लिया। इसी से प्रेरित हो एक राजस्थानी कवि ने कितना सटीक कहा है- ''गुरु कुलाल (कुंभकार) शिश कुंभ है, घड़-घड़ काढ़त खोट। अन्दर हाथ पसार के, बाहर मारत चोट।।'' वस्तुतः शिष्य गुरु की एवं श्रावक श्रमण की कृति है। वे उसके निर्माता हैं।

मित्रों! आपको विदित ही है कि डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण करके भी डॉक्टरी इलाज के सच्चे एवं सार्थक नुस्खे और अनुभव प्राप्त करने के लिए डाक्टरी परीक्षा उत्तीर्ण व्यक्ति को किसी विषय-विशेषज्ञ डाक्टर के उत्तीर्ण रेजिडेंट डॉक्टर के रूप में ट्रेनिंग प्राप्त करनी पड़ती है। एल.एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद भी असली वकालात शुरु करने के पूर्व उस वकालात के कुशल वकील के नियंत्रण में एक साल काम कर ट्रेनिंग लेनी पड़ती है, उसी प्रकार श्रावक या शिष्य को आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग जानने हेतु गुरु के सत्संग की, उसकी चरण पर्युपासना कर ज्ञान के गूढ़ तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने की साधना भी करनी पड़ती है। गुरु (श्रमण) शिष्य (श्रावक) की छठी इन्द्रिय का दरवाजा खोल देता है। भीतर देखने वाली सुप्त आँख को जागृत कर देता है एवं इस तरह आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग सुगम बना देता है। जैसी शिष्य की योग्यता, वैसी ही प्राप्ति का अनुभव उसे होता है। शिष्य की योग्यता है श्रद्धा एवं गुरु की योग्यता है अनुग्रह।

विनय के साथ विवेक भी श्रमण-श्रावक के शुभ सम्बन्धों की आधारशिला है। विवेक यानी ''हेयोपादेयज्ञानं विवेकः।'' मेरे लिये क्या उचित, क्या अनुचित एवं क्या ग्राह्य है एवं क्या अग्राह्य है, इस अच्छे-बुरे में फर्क जानने की विद्या का नाम है विवेक। प्रभु ने धर्म ज्ञान में नहीं विनय एवं विवेक में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बताया है अतएव विनय एवं विवेक श्रमण एवं श्रावक के सम्बन्धों की नींव के पत्थर हैं जिन पर सुदृढ़ धर्म एवं अध्यात्म का महल खड़ा किया जाता है। सच्चे चरित्र की पहचान भी प्रभु ने यही बताई है कि शुभ में प्रवृत्ति एवं अशुभ से निवृत्ति का नाम ही चारित्र है। विवेक के सम्बन्ध में कबीर फरमाते हैं कि **''समझा-समझा एक है, अण समझा सब एक। समझा सो ही जानिए, जाके हृदय विवेक।''** वस्तुतः ज्ञान, बुद्धि एवं हृदय का सामंजस्य ही विवेक है। बुद्धि एवं ज्ञान से समझे, परन्तु निर्णय लेते वक्त मात्र भावुकता से नहीं विवेक से काम ले वही सच्चा श्रावक है, क्योंकि भावुकतावश लिए गये निर्णय सही ही हों, यह आवश्यक नहीं है। विवेक की प्रशंसा करते हुए चाणक्य नीति कहती है- **'विवेकिनमनुप्राप्ता गुणा यान्ति मनोज्ञताम्। सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम्।'** विवेकवान व्यक्ति के गुण स्वर्ण में जड़े हुए रत्न की तरह सुन्दर दिखाई देते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने विवेकशील श्रावक को सम्बोधित करके कहा है- **'विवेकिनां विवेकस्य फलं ह्यौचित्यवर्तनम्।।'** विवेकशीलों के लिए विवेक का फल यही है कि वे सर्वत्र समय एवं आवश्यकता के अनुसार उचित व्यवहार करें। यही विवेकशीलता यानी विवेकशील व्यक्ति की पहचान है। जिस काम को करने से आपके मन में भय, शंका, लज्जा और ग्लानि का अनुभव हो ऐसा व्यवहार गुरु (श्रमण) तो क्या सामान्य जन के प्रति भी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाले को मानना चाहिए कि उसका विवेक ऐसा करने से उसे रोक रहा है। जिस व्यवहार को प्रयोग में लाते आपको आनन्द, उत्साह, गौरव एवं प्रीति की अनुभूति हो तो समझ लें ऐसे व्यवहार को आपका विवेक आगे बढ़ने हेतु हरी झंडी दिखा रहा है। अतएव श्रावक का श्रमण के प्रति व्यवहार सदैव विनयनत एवं विवेक युक्त ही होना चाहिए।

श्रावक को कभी सांसारिक कामना की पूर्ति हेतु गुरु से मांगलिक या आशीर्वाद नहीं मांगना चाहिए। श्रमण-साधु का क्षेत्र वीतरागता का क्षेत्र है। सांसारिक कामना की पूर्ति श्रमणों का क्षेत्र ही नहीं है। श्रावक को चाहिए कि श्रमण से फरियाद न करे, बल्कि उसके श्री चरणों में समर्पण करे। यदि फरियाद करोगे तो असली लाभ से वंचित रह जाओगे। गुरु या श्रमण का काम है श्रावक के राग-द्वेष, विषय-कषाय एवं अहंकार को काट-छांट कर श्रावक के भीतर शुद्ध आत्मस्वरूप का प्राकट्य करे। एक अनगढ़ पत्थर में निहित मनभावन एवं पूजनीय मूरत का प्राकट्य करे। पत्थर में यदि ज्ञान के हथौड़े व श्रद्धा की टाँकी की मार सहते वक्त चरित्र में इतनी कोमलता हो कि वह गुरु ज्ञान व श्रद्धा रूपी टाँकी-हथौड़े की मार सहकर भी टूटे नहीं तभी गुरु द्वारा शिष्य के जीवन की मनभावन मूरत प्रकट हो पाती है। गुरु-समर्पण का महत्त्व यही है कि सिरदे व सरताज बन। अपना 'मैं पना' मिटाकर मुर्शिद बने। अपना तुच्छ 'मैं पन' गुरु-श्रमण-चरण में समर्पित कर उनके सर्वस्व का मालिक बन जाओ। मित्रों! लोहे का टुकड़ा यदि कीचड़ में पड़ा है तो जंग से जर्जर बन बिखर जायेगा। अलमारी में रखो तो भी हवा की आर्द्रता से जंग खा जायेगा। उसी लोहे के टुकड़े को पारस (सद्गुरु-श्रमण) का स्पर्श कराकर एक बार सोना बना दो फिर चाहे उसे कीचड़ में डालो, रेत में दबावो, अलमारी में रखो या खुली वर्षा के नीचे रखो वह जंग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

खायेगा ही नहीं। ऐसा श्रावक (शिष्य) श्रमण (सद्गुरु) के सान्निध्य में पवित्र बन फिर दुबारा विकारों व विषयों के जाल में फंसने से कतराएगा। ऐसी होती है श्रमण एवं श्रावक के पारस्परिक सम्बन्धों की फलश्रुति।

'चंदावेज्झयंपइण्णयं' अर्थात् 'चंद्रवेध्यक प्रकीर्णक' में गुरु-शिष्य अथवा श्रमण-श्रावक के गुणों की व्याख्या करते हुए कुछ सूत्र कहे गये हैं जो उनके गुणों को दिग्दर्शित करने के साथ उनके बीच पारस्परिक व्यवहार कैसा हो, इस पर भी प्रकाश डालते हैं। वे इस प्रकार हैं-

1. *सव्वत्थ लब्भेज नरो विस्संभं, सच्चयं च कित्तिं च। जो गुरुजणोवइट्ठं विज्जं विणएण गेण्हेज्जा।।6।।*

अर्थात् जो श्रावक गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट विद्या को विनयपूर्वक ग्रहण करता है वह शिष्य सर्वत्र विश्वास, प्रामाणिकता एवं कीर्ति प्राप्त करता है।

2. *दुस्सिक्खिओ हु विणओ, सुलभा विज्जा विणीयस्स।।22।।*

अर्थात् विनयगुण प्राप्त करना दुष्कर है। विनीत शिष्य या श्रावक के लिए ज्ञानार्जन सुलभ होता है।

3. *दुल्लहा आयरिया विज्जाणं दायगा समत्ताणं। ववगय चउक्कसाया दुल्लहया सिक्खया सीसा।।14।।*

सम्पूर्ण विद्याओं के प्रदाता श्रमण आचार्य दुर्लभ होते हैं। चारों कषायों से रहित शिक्षक (श्रमण) एव शिष्य (श्रावक) भी दुर्लभ हैं।

4. *पुढवी विव सव्वसहं मेरुव्व अकंपिरं ठियं धम्मे। चंदं व सोमलेसं आयरियं पसंसंति।।23।।*

यानी पृथ्वी की तरह सब सहन करने वाले, पर्वत की तरह अकंपित, धर्म में स्थित, चन्द्रमा की तरह सौम्य एवं कांतियुक्त उन आचार्यों की सभी प्रशंसा करते हैं।

5. *जह दीवा दीवसयं पइप्पए सो य दिप्पए दीवो। दीवसमा आयरिया दिप्पंति परं च दीवेंति।।30।।*

जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जलते हैं एवं वह दीपक स्वयं भी प्रकाशवान रहता है वैसे ही दीपक के समान आचार्य (श्रमण-श्रेष्ठ) स्वयं प्रकाशित रह दूसरों को प्रकाशित करते हैं।

6. *सीयसहं उण्हसहं वायसहं खुद विवास अरइसहं। पुढवी विव सव्वसहं सीसं कुसला पसंसति।।38।।*

पृथ्वी की तरह सर्दी, गर्मी, वायु, भूखप्यास, अरति (प्रतिकूलता) आदि सभी कुछ सहने वाले शिष्य की सभी कुशलजन प्रशंसा करते हैं।

7. *लाभेसु-अलाभेसु य अविवन्नो जस्स होइ मुंहवण्णो। अप्पिच्छं संतुट्ठं सीसं कुशसला पसंसंति।।39।।*

अर्थात् लाभ एवं अलाभ में जो अविचलित (अविवर्ण) रहता हो उसकी प्रशंसा होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अल्पेच्छा से संतुष्ट शिष्य की कुशलजन प्रशंसा करते हैं।

8. *वयणाइं सुकडुभाइं पणयनिसिट्ठाइं विसहियव्वाइं। सीसेणाऽऽयरियाणं नीसेसं मग्गमाणेणं।44।।*

जिस प्रकार पत्नी के लिए पति के अत्यधिक कठोर वचन भी सहनीय हैं उसी प्रकार कल्याण मार्ग को खोजते शिष्य के लिए आचार्य (श्रमणश्रेष्ठ) के कठोर वचन भी सहनीय हैं।

9. *विणयो मोक्खद्दारं विणयं मा हु कयाइ छडेज्जा।।54।।*

श्रावक के लिए विनय मोक्ष का द्वार है, अतः विनय व्यवहार को श्रावक कभी नहीं छोड़े।

10. *जो अविणीयं विणएण जिणइ, सीलेण जिणइ निस्सीलं। सो जिणइ तिण्णिलोए पावमपावेण सो जिणइ।।55।।*

जो अविनीत को विनय से, दुःशील को शील से एवं पाप को पुण्य से जीतता है, वह तीनों लोकों में विजय प्राप्त करता है।

11. *जो विणओ तं नाणं, जं नाणं सो उ वुच्चइ विणओ। विणएण लहइ नाणं, नाणेण विजाणइ विणयं।।62।।*

श्रावक को इंगित कर कहा गया है कि जो विनय है वही ज्ञान है और जो ज्ञान है वही विनय है। विनय से ही ज्ञान प्राप्त होता है एवं ज्ञान से ही विनय को जाना जाता है।

इस प्रकार चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक में श्रमण एवं श्रावक किन गुणों से एवं परस्पर किस प्रकार के व्यवहार से महिमा मंडित होता है यह उल्लेख किया गया है। वस्तुतः सद्गुरु के बिना सच्चा ज्ञान जो आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार करावे, संभव नहीं है। तभी कहा है- **"गुरु बिन भवनिधि तरहिं न कोई, चाहे विरंचि शंकर सम होई।।** अर्थात् शिष्य या श्रावक में जब तक सद्गुरु तत्त्व की कृपावृष्टि न हो, तब तक कोई भवसागर को नहीं तैर सकता। दिलबर (परमात्मा) दिल (हृदय) में जन्म-जन्मान्तर से छिपा है, फिर भी गुरु कृपा के बिना उसका साक्षात्कार बहुत दुष्कर है। इसी को ध्यान में रखकर श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि-**"आत्म भ्रांति समरोग नहीं, सतगुरु वैद्य सुजान। गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ज्ञान।।"** अर्थात् शिष्य या श्रावक आत्म भ्रांति के रोग से ग्रसित है, जिसका निदान मात्र आत्मार्थी सद्गुरु श्रमण के पास है। हर दवा तभी कारगर होती है जब पथ्य का सेवन हो। इस आत्म-भ्रान्ति के रोग का पथ्य गुरु आज्ञा में रहना है एवं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं सद्विचार ही इस आत्म-भ्रान्ति के रोग की औषधि है। शिष्य या श्रावक सदैव आज्ञांकित नहीं, आज्ञेच्छुक हो वह अधिक उचित है। आज्ञांकित आज्ञा में तो रहता है, पर उसे आज्ञा से अरुचि भी हो सकती है, जबकि जो आज्ञाकांक्षी या आज्ञेच्छुक है वह तो गुरु की इच्छा को ही अपनी इच्छा एवं गुरु रुचि को अपनी रुचि मानकर सारा जीवन गुरु चरणों में समर्पित कर देता है। इसीलिए आचारांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध 4.3 में कहा है- "आणाकंखी पंडिए।" श्रमण का आज्ञाकांक्षी श्रावक पंडित कहलाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस तरह श्रावक विनयी, विवेकशील, समर्पित एवं आज्ञाकांक्षी होना चाहिए उसी तरह सच्चे गुरु या सच्चे श्रमण के लक्षण बताते हुए कहा है कि -"**आत्मज्ञान तहाँ मुनिपणुं, ते साचागुरु होय। बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय॥**" यानी श्रमण वही है जो आत्मज्ञान का तथा पंच समिति-तीन गुप्ति एवं पंच महाव्रतों का धारक हो। शेष तो कुलगुरु हो सकते हैं, श्रमण नहीं। गुरु एवं श्रमण के लक्षणों को दिग्दर्शित करते हुए आत्मसिद्धि ग्रन्थ में कहा गया है- "आत्मज्ञान समदर्शिता विचरे उदय प्रयोग, अपूर्ववाणी, परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग॥ यानी श्रमण एवं गुरु की योग्यता का धारक वही है जो आत्मज्ञानी हो, समदर्शी हो, जिसकी वाणी धीर-गंभीर हो, जो शास्त्रज्ञान में पारंगत हो एवं उपयोग सहित विचरण-विहार करे वही श्रमण है। सच्चे श्रमण की अगली पहचान बताते हुए कहा है- "**सव्वे व भूता सुमना भवन्तु॥**" अर्थात् श्रमण या साधु मात्र अपनी आत्मा की ही नहीं, समस्त भव्य जीवों के कल्याण की सोच रखने वाला होता है। योगवाशिष्ठ में कहा है कि गुरु कितना ही लब्धिनिष्ठ एवं ज्ञानी हो, उसका ज्ञान श्रावकों के व शिष्यों के जीवन के तिमिर का हरण कर उसे ज्ञान रश्मियों से आलोकित करने के लिए होता है, उस ज्ञानलब्धि से किसी को शाप देकर भस्म करने के लिए नहीं।

यह आवश्यक नहीं है कि श्रमण एवं श्रावक का पारस्परिक व्यवहार सदैव मृदु ही हो। कई बार ऐसी परिस्थिति आती है कि गुरु को उपालंभ भी देना पड़ता है, पर ऐसा होता है श्रावक-श्राविका के हित को दृष्टिगत रखकर ही। महासती चन्दनबाला का एक उपालंभ महासती मृगावती के कैवल्य-प्राप्ति का कारण बन गया। तपस्वी संत के रोज भिक्षा लाने व भिक्षा में बासीभोजन मिलने पर गुरु द्वारा उपालम्भ दे पात्र में थूकना भी कुडगुरु के केवलज्ञान-प्राप्ति का आधार बन गया। देवमाया रूप साधु की फटकार एवं प्रताड़ना ही सेवाभावी नंदीषेण मुनि के जीवन को केवलज्ञान के आलोक से आलोकित कर गई। इसी तरह गुरु का एक वाक्य या एक वचन या सूत्र भी शिष्य को कल्याणमार्ग पर अग्रेसित कर देता है। पांच माह तेरह दिन में 1141 हत्याएँ करने वाला अर्जुनमालाकार प्रभु महावीर के एक सूत्र "तितिक्खं परमं नच्चा" अर्थात् तितिक्षा यानी सहन करने को परम धर्म जानकर एवं उसका पालन कर मात्र छः माह की अल्प अवधि में प्रभु महावीर से पहले मोक्षगामी बन गया। ज्ञानान्तराय से ग्रसित मुनि को गुरु ने एक सूत्र दिया 'मा रुस मा तुस' यानी न तूं रुष्ट हो एवं न ही तुष्ट हो। उसे भी शिष्य याद नहीं रख पाया व 'मा रुस व मा तुस' को 'मास-तुस' के रूप में याद रख पाया एवं जीवन भर उड़द के छिलके की कालिख हटने पर श्वेत उड़द पाया जाता है इसी सूत्र पर ध्यान केन्द्रित कर केवलज्ञान प्राप्त कर गया।

वे श्रावक जिनके परिवार से कोई पुरुष अथवा स्त्री दीक्षित हुए हैं, उन्हें चाहिए कि उनके साधुत्व ग्रहण करने के पश्चात् उनकी एकान्त में सेवा न करें न कभी घरेलू समस्याओं या सम्बन्धों के सम्बन्ध में उनसे बात करें, क्योंकि छद्मस्थ होने से साधु ऐसे संसर्ग से अथवा इस तरह की सूचनाओं से राग-द्वेष या मोह से ग्रसित हो सकते हैं। वे सेवा अवश्य करें, पर अन्य साधुओं की उपस्थिति में सेवा करें जिससे श्रमण का मोहभाव जागृत न हो पावे। यह सावधानी हर वीर परिवार जिससे दीक्षा हुई है, उन्हें बरतनी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए ताकि उन संत या महासती की संयम-यात्रा में सहयोगी की भूमिका निर्वहन हो सके।

श्रावक-श्राविका को श्रमण-श्रमणी के माता-पिता (अम्मापियरो) के विरुद से सम्मानित किया गया है। हमारा बतौर श्रावक यह कर्त्तव्य है कि हम श्रमणों एवं महासती मण्डल के गोचरी, विहार, बीमारी में औषधि, परिचर्या आदि के प्रति सजग व जागरूक रहें ताकि श्रमणवर्ग को उनकी श्रमण चर्या की मर्यादाओं का पालन करने में कठिनाई का सामना न करना पड़े। श्रमण 42 दोष टाल कर भिक्षा ग्रहण कर सकता है, अतएव श्रावक इस बात के प्रति सावधान रहे कि श्रमणों एवं महासतीवृन्द को प्रासुक जल एवं निर्दोष गोचरी बहरावें। आधाकर्मी आहार हरगिज न बहरावे। उनके वस्त्र-पात्रों की आवश्यकता भी श्रावकों को ही पूरी करनी पड़ती है, पर इसमें साधु मर्यादा खंडित हो ऐसा व्यवहार हम कदापि न करें। श्रमण अणगार है, अतः उनके ठहरने का शय्यातर हमें ही बनना पड़ता है। उनके बैठने के पाट-पाटलों की निर्दोष व्यवस्था भी करना श्रावक का ही कर्त्तव्य बनता है। श्रमण पाँच आचार का पालक होता है, छः काय का रक्षक होता है। वह सातों कुव्यसनों का आजीवन त्यागी, आठ मदों का त्यागी, शुद्ध ब्रह्मचर्य (नववाड़ सहित) का पालक, दस प्रकार के यति धर्म का धारक, बारह प्रकार से तप करने वाला, सत्रह भेद से संयम की पालना करने वाला, अठारह पापस्थान का त्यागी, बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करने वाला होता है। वह न बुलाये आता है न न्यौता प्राप्त कर गोचरी प्राप्त करता है, वह सचित्त का त्यागी एवं अचित्त को ग्रहण करता है। लोच करने वाला एवं नंगे पांव अपना वजन खुद अपने पर लाद कर चलने वाला होता है एवं मोह-ममता रहित होकर विचरता है। हम श्रावकों का कर्त्तव्य है कि हमारा श्रमणों के साथ ऐसा समर्पित विनय एवं विवेकपूर्ण व्यवहार होना चाहिए कि उनकी इन उपर्युक्त एवं अन्य साधु मर्यादाओं के पालन में किसी तरह का विक्षेप न आवे। अलबत्ता इस संयम-साधना में हमारी भूमिका सहयोगी की होनी चाहिए। अत्यधिक मोह-ममतावश ऐसा कुछ न करें, जिससे उनकी साधना-आराधना एवं श्रमणचर्या में कोई विघ्न उपस्थित हो। माता-पिता का कर्त्तव्य अपनी संतान के हित-चिन्तन का एवं उनके संकल्पित लक्ष्य में सहयोग कर उन्हें अपने आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ाने का होता है। श्रावक-श्राविका श्रमणों एवं साध्वीवृन्द के माता-पिता हैं। विरक्त आत्माएँ संसार को हमारे भरोसे नहीं छोड़ते, परन्तु उनकी वीतरागता की साधना में हमें अपेक्षित योगदान आगे बढ़ कर देना होता है, यह हर श्रावक का कर्त्तव्य है एवं उसका प्रमोदपूर्वक पालन ही हमारे श्रावकत्व को गौरवशाली बनाता है। अतएव हमें चाहिए कि हम राग-भाववश साधु-साध्वीवृन्द को अकल्पनीय वस्तु का दान न दें, न आधाकर्मी आहार उन्हें बहरावें। द्वेषवश देने योग्य अचित्त वस्तु को जानबूझकर सचित्त से ढंके नहीं अथवा देने योग्य वस्तु जो साधु को लेनी कल्पती है उसे कपट एवं मायाभाव से अपनी न बताकर साधु-साध्वी को उचित दान प्राप्ति से वंचित भी नहीं करें। जब साधु-साध्वी को कोई वस्तु देने का मौका आवे तो अहं या द्वेष वश दूसरे सम्प्रदाय का साधु समझकर स्वयं वह वस्तु दान में न देकर दूसरों से उसका दान नहीं करवावें एवं साधु-साध्वी को दान देकर कभी पश्चात्ताप न करें। घर में देने

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

योग्य वस्तु हो एवं साधु को उसकी आवश्यकता हो तो श्रावक के नाते हमारा कर्त्तव्य है कि हम उस वस्तु को देने से इन्कार न करें, क्योंकि वे तो गृहस्थ के घर से ही वह वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। चाहे किसी सम्प्रदाय के साधु-साध्वी हों, यदि वे गोचरी हेतु आपके घर आ रहे हों तो न उनके प्रति घृणा भाव लावें एवं न क्रोध तथा द्वेषवश उनके प्रवेश का निषेध करने हेतु घर-दरवाजा बंद करें। ऐसा करना जघन्य पाप की श्रेणी में आता है एवं निकाचित कर्मों के बंध का आधार बनता है। साधु-साध्वी के लिए अपने उपयोग हेतु वस्तु-प्राप्ति का स्थान मात्र गृहस्थ का घर है।

आज विहार-चर्या में साधु-साध्वीगण पूरी तरह असुरक्षित हैं। पिछले दो वर्षों में कितने ही महान् संतगण एवं महासतीवृन्द अकाल मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। इस बिगड़े हुए जमाने एवं माहौल में जहां नैतिकता अपने निम्नतम धरातल को छू चुकी है, साध्वीवृन्द का विहार और ज्यादा कष्टप्रद एवं आपदाओं से भरा है। जैन-जैनेतर अपरिचित क्षेत्र में उनका रात्रि विश्राम भी संकटों से भरा होता है, अतएव श्रावक-श्राविका वर्ग का कर्त्तव्य है कि साधु-साध्वी वृन्द को अपने गांव या क्षेत्र में बुलाकर ही संतोष नहीं करें, वरन् उन्हें अगले गांव या जहां जैन साधुचर्या के जानकार लोग न मिलें वहाँ तक उन्हें सुरक्षित पहुँचाना एवं रात्रि को उनकी सुरक्षा हेतु ठहराना भी उनका कर्त्तव्य बन जाता है ताकि हमारे पंच परमेष्ठी साधु-साध्वीवृन्द की इज्जत एवं मर्यादा को कोई आंच न आवे। किसी एक गांव से विहार कर वह किस रास्ते से जावे एवं कहाँ-कहाँ ठहरने पर उन्हें गोचरी-पानी प्राप्त करने में कष्ट का सामना नहीं करना पड़ेगा एवं कितने किलोमीटर का विहार करना जरूरी होगा, यह भी पता लगाना हम श्रावकों का कर्त्तव्य है। यदि साधु-साध्वीवृन्द रुग्ण हैं तो उन्हें मार्ग में परिचर्या के साधन उपलब्ध कराना एवं कहाँ जाकर उनका स्थायी उपचार हो पायेगा एवं ऐसा स्थायी उपचार कौन करेगा एवं कहाँ व किस अस्पताल में उपलब्ध हो पायेगा, यह जानकारी एवं सुविधा कराना भी हम श्रावकों का श्रमणों के प्रति एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है।

अंत में श्रमण एवं श्रावक के आपसी व्यवहार पर एक श्लोक उद्धृत कर मैं अपना कथन समाप्त करना चाहूँगा। वह श्लोक निम्न प्रकार है-

धन्ना णं ते जीवलोए, गुरवो निवसंति जस्स हियम्मि।
धन्नाणं वि सो धन्नो, गुरूण हिय वसइ जऊ।।

अर्थात् वे शिष्य या श्रावक धन्य हैं जिनके हृदय में गुरु अथवा श्रमण परमेष्ठी का निवास है, परन्तु वे शिष्य या श्रावक धन्यातिधन्य हैं, जिनका अपने गुरु के हृदय में निवास है, जैसाकि गुरु हीराचन्द्र जी एवं मानचन्द्र जी का अपने गुरु हस्तीमल जी महाराज के हृदय में एवं आचार्य देवेन्द्रमुनि जी का अपने गुरु पुष्कर मुनि जी के हृदय में निवास था।

-अध्यक्ष, जोधपुर मंदिर दुखान्तिका आयोग
सिरेह सदन, 20/33, रेणु पथ, मानसरोवर, जयपुर (राज.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org